साधुचर्या

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़,

पूर्व कुलपति सिंघानिया विश्वविद्यालय, राजस्थान

हमारे देश में जीवनयापन के दो मार्ग हैं। एक है प्रवृत्ति और दूसरा निवृत्ति मार्ग है।गृहस्थ जीवन प्रवृत्ति मार्ग का जीवन है और साधु जीवन निवृत्ति मार्ग का जीवन है। साधु वह कहलाता है जिसमें सज्जनता होती है। साधु सब कुछ त्यागकर आत्मरमण में निरत होता है। उसके लिए आत्मा ही सब कुछ है उसका आचार विचार भारतीय संस्कृति के मूल में समाहित होता है। मार्गभारतीय संस्कृति आचार प्रधान संस्कृति है। इस संस्कृति में आचरण की पवित्रता पर जितना अधिक बल दिया गया है, उतना किसी अन्य पर नहीं। आचार के बल पर मानव देवता के समान पूजनीय बन जाता है। भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर, श्रीमदाद्यशंकराचार्य जैसे महान् व्यक्तित्व का नाम आदर के साथ इसीलिए लिया जाता है कि इन्होंने अपने आचारण के द्वारा संसार को एक नयी दिशा दी। जैन परम्परा में साधु को मुनि, यति, अनगार, श्रमण, संयत, महाव्रती आदि नामों से जाना जाता है। श्रमण परम्परा में श्रमण जीवन को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

साधना के अनुकूल वातावरण पाने के लिए वेष परिवर्तन करना होता है और गृहवास–त्याग भी आवश्यक है। केवल गृह का परित्याग करने से अनगार नहीं होता, अनगार एक महान् धर्म है। अत्यन्त सजग और सतर्क रहकर इस धर्म की आराधना और साधना की जाती है। केवल बाह्य संग का त्याग ही पर्याप्त नहीं है, भीतर से असंग होना आवश्यक है। जब तक देह आदि के प्रति रागादि सम्बन्ध रहता है तब तक साधक भीतर से असंग नहीं बन सकता। जिस व्यक्ति के हृदय में कामनाओं का वास है, वहां संसार है, अनगार कामनाओं से ऊपर उठा होता है, इसीलिए वह असंग होता है। जैन संस्कृति में श्रमण का मुख्य उद्देश्य है–विभाव से हटकर स्वभाव में रमण करना, परभाव से हटकर स्वभाव में आना, प्रदर्शन नहीं, आत्मदर्शन करना। यही कारण है कि वह केवल आत्मविकास के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करता है।

जैन साधु की पात्रता के लिए यह आवश्यक है कि उसे संसार की असारता का विधिवत् ज्ञान हो। प्रकृति से शान्त, आचार्य के प्रति दृढ़श्रद्धावान्, विनम्र, धर्म के प्रति जागरूक, शम–दम–तितिक्षासम्पन्न, कष्टसहिष्णु, अहिंसकवृत्ति सम्पन्न व्यक्ति ही जैन साधु बनने का अधिकारी होता है। जो व्यक्ति मनसा, वाचा, कर्मणा, किसी भी प्रकार से हिंसा वृत्ति वाला है, विक्षिप्त है, कामनाओं से ग्रस्त है, विषय लोलुप है, वह व्यक्ति साधु बनने का अधिकारी कथमपि नहीं है। इसीलिए मुनि के लिए संयम ही आदानीय है।

जैन शास्त्रों में श्रमण को अट्ठाइस मूल गुणों से विभूषित बताया गया है। मूल का अर्थ है 'प्रधान' और गुण का अर्थ है 'आचरण विशेष'। इसलिए मूलगुण का अर्थ हुआ–प्रधान आचरण। हिंसाविरति (अहिंसा), सत्य, अदत्तपरिवर्जन (अस्तेय) ब्रह्मचर्य और संगविमुक्ति (अपरिग्रह)–ये पांच महाव्रत हैं। ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, निक्षेपादान तथा मलमूत्रादि का प्रतिष्ठापन सम्यक् परित्याग ये समितियां पांच प्रकार की हैं। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन–इनका निरोध। सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग ये छह आवश्यक क्रियाएं हैं। केशलुंचन, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तघर्षण, स्थितभोजन और एकभक्त। ये अट्ठाईस मूलगुण श्रमणाचार की आधारशिला हैं। श्रमणाचार का प्रारम्भ इन्हीं मूलगुणों से होता हैं। वृक्षमूल के समान मुनि के ये अट्ठाइस मूलगुण हैं। इनमें न तो कभी न्यूनता होती है और न अधिकता। जो श्रमण इन गुणों का छेदकर बाह्ययोग करता है, मूलगुण विहीन उस साधु के सभी योग किसी काम के नहीं।

जैन संस्कृति व्रतों की संस्कृति है। श्रम, तप और त्याग प्रधान श्रमण संस्कृति में आध्यात्मिक मूल्यों की महती प्रतिष्ठा है। आध्यात्मिक जीवन के उत्कर्ष को निरन्तर गतिशील बनाये रखने के लिए व्रत, नियम आदि के पालन और मर्यादा से अपने आचार को संवारना आवश्यक है। व्रत का अर्थ है– हिंसा, सत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह से निवृत्त होना, इनसे विरति होना। विरति अर्थात् जानकर और प्राप्त करके इन कार्यों को न करना। प्रतिज्ञाकरके जो नियम लिया जाता है वह भी व्रत है, यह करने योग्य है और यह करने योग्य नहीं है इस प्रकार नियम लेना भी व्रत है। इस प्रकार हिंसा आदि पांच पापों के दोषों को जानकर आत्मोत्कर्ष के उद्देश्य

से इनका त्याग या इनसे विरति की प्रतिज्ञा लेकर पुनः कभी उनका सेवन न करने को व्रत कहते हैं।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये जब मर्यादित रूप से ग्रहण किये जाते हैं, तब अणुव्रत कहलाते हैं। अणुव्रत का अधिकारी गृहस्थ होता है। वह हिंसा आदि का सर्वथा परित्याग नहीं कर सकता। जबकि साधु–साध्वी वर्ग का जीवन गृहस्थी के उत्तरदायित्व से मुक्त होता है। वह पूर्ण आत्मबल के साथ पूर्ण चारित्र के पथ पर अग्रसर होता है। अतः इन असत्प्रवृत्तियों से एकदेश निवृत्ति को अणुव्रत तथा सर्वदेशनिवृत्ति को महाव्रत कहा जाता है। साधुचर्या बहुत कठिन है। यह तलवार की धार पर चलने के समान है। एकनिष्ठ, तपोनिष्ठ और सद् प्रवृत्तियों में लगा हुआ व्यक्ति इस मार्ग का अनुयायी हो सकता है। साधुचर्या के लिए केवल वस्त्र परिवर्तन ही आवश्यक नहीं है बल्कि मन परिवर्तन भी बहुत आवश्यक है। बिना मन के परिवर्तन के कोई व्यक्ति साधु नहीं बन सकता।